ભારતીય નાટ્ય સાહિત્ય-૧

સંપાદકો

ડૉ.મંજુલાબેન એ.પટેલ

ડૉ.બી.કે.પ્રજાપતિ ડૉ.રમેશ એસ.પ્રજાપતિ

ડૉ. શૈલેષ કે.જોષી ડૉ.ભારતી એ. પટેલ

Bhartiya Natya-Sahitya-1

Edited by : Dr.Manjulaben A. Patel,
Dr. B. K. Prajapati, Dr. Ramesh S. Prajapati
Dr. Shailesh K. Joshi, Dr. Barti A. Patel
2019

ISBN : 978-93-84601-10-2

© પ્રિન્સિપાલ, શ્રીમતી આર.એમ.પ્રજાપતિ આર્ટ્સ કોલેજ,સતલાસણા
©લેખના જે-તે લેખકોના

સંપાદન : સંસ્કૃત વિભાગ

પ્રથમ આવૃત્તિ : ૨૦ ફેબ્રુઆરી ૨૦૧૯

પ્રત : ૧૦૦

પ્રકાશક :
પ્રિન્સિપાલ,
શ્રીમતી આર.એમ. પ્રજાપતિ આર્ટ્સ કોલેજ, સતલાસણા,
જિ.મહેસાણા-૩૮૪૩૩૦

ટાઈપ સેટિંગ : રણજીત રાવત

મુખપૃષ્ઠ સજ્જા અને મુદ્રક :
કોહિનૂર પ્રિન્ટર્સ, સતલાસણા

20	ઉત્તર ગુજરાતનું નાટ્ય સાહિત્ય	જીગર એ. ત્રિવેદી	115
21	કાલિદાસની કૃતિઓમાં દૈવી તત્વ	ડા.નવઘણસિંહ બી. વાઘેલા	119
22	કરુણા વજાયુધ નાટકમાં રસ – નિરૂપણ	પ્રજાપતિ રશ્મિનકુમાર જીવાભાઈ	124
23	***मोहनराकेश के नाटको मे सामाजिकता***	***नाला इमलबा, चम्पकसिंह***	129
24	મણિપુરી નૃત્ય	રોહિત દિપીકા કે.	131
25	સંસ્કૃત નાટકોમાં પ્રણય નિરૂપણ	ડા.અમ્રીતલાલ વી. દેસાઈ	133
26	નાટ્યશાસ્ત્ર નો ઉદભવ અને વિકાસ	પ્રા.દિનેશ એસ. ચૌધરી	136
27	મહાભારત આધારે ભાસ નાટકોમાં જીવનમૂલ્યો	સ્નેહા નટવરલાલ પ્રજાપતિ	145
28	ભાસના રૂપકોમાં આલંકારિક બિંબોનું વિસ્તારક્ષેત્ર	ડા.સપના જે. પટેલ	151
29	***नाटय का उदभव तथा विशिष्टताएँ***	***डॉ मजुलाबेन एन. सोलंकी***	157

नाट्य का उद्भव तथा विशिष्टताएँ

डॉ. मञ्जुलाबेन एन. सोलङ्की
आर्ट्स कॉलेज, मोडासा.

साहित्य के सभी प्रकारों में नाट्य श्रेष्ठ माना गया है । इसकी रचना को कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है - नाटकान्तं कवित्वम् । वामन ने काव्यालंकारसूत्र में कहा है - सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । कारण यह है की यह चित्रपट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त है । इतनी विशिष्टताएँ अन्य काव्य-भेदों में नहीं होती । रूपक में गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण तो रहता है; इसे सुनने के अतिरिक्त देखा जाता है । श्रव्य की अपेक्षा दृश्य का अधिक प्रभाव होता है । भारतीय रूपकों का उद्देश्य केवल उपदेश देना, संवादों के द्वारा किसी घटनाक्रम का निरूपण करना या विषय की स्थापना मात्र नहीं है लेकिन अभिनय के भिन्न प्रकारों से प्रेक्षक या दर्शक को रसास्वाद कराना इसका महत् उद्देश्य है । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र (६-३१) में कहा है कि इस नाट्य-संसार में सब कछ रसमय होता है, रस के बिना यहाँ कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता है - न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते । कोइ व्यक्ति किसी भी रूचि का क्यो न हो, उसे अपना अनुकूल विषय नाट्य जगत में अवश्य मिल जायेगा । इसीलिए कालिदास ने इसकी प्रशंसा में कहा है - नाट्यं भिन्नरूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।'

काव्य को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने दृश्य और श्रव्य के रूप में दो वर्गों में रखा है । दृश्यकाव्य के दो भेद है - रूपक तथा उपरूपक । रूपक दस और उपरूपक अठारह प्रकार के होते है । रूपकों का एक प्रमुख भेद 'नाटक' है जो अपने अर्थ का विस्तार करके समान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में नाट्य मात्र या दृश्यकाव्य मात्र का अर्थ देता है । इसीलिए यह नाटक शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रचलित है, यद्यपि संस्कृत में एक सीमित अर्थ- परिधि में आता है । इन प्रसंग में धनञ्जय ने नाट्य रूप और रूपक इस तीन शब्दों के प्रयोग के हेतुओं का निरूपण किया है जो वस्तुतः एकार्थक है । तदनुसार विविध पात्रों की अवस्थाओं का चतुर्विध अभिनय (आङ्गिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य) के द्वारा जब नट अनुकरण करता है तो इसे 'नाट्य' कहते है । नाट्य को देखा जाता है अर्थात् रूप के समान यह चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, अत एव इसे रूप भी

कहते है । अभिनेता पर रामादि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप होने से उसी नाट्य या रूप को शास्त्रीय दृष्टि से रूपक कहते है, आरोप ही रूपक है जैसे मुख पर चन्द्र का आरोप होने से मुखचन्द्र में रूपकालंकार है । ये रूपक रसाश्रय होते है, केवल भाव पर आश्रित नहीं रहते ।[२] रूपक के दस भेद किये गये है - (१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) प्रहसन (५) डिम (६) व्यायोग (७) समवकार (८) वीथी (९) अङ्क (१०) ईहामृग ।[३]

नाट्य का उद्भव :

संस्कृत दृश्य काव्य का उद्भव कब और किस प्रकार से हुआ, इस प्रश्न का निश्चित समाधान करना कठिन है क्योंकि इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं । जो संकेत अन्तरंग और बाह्य स्रोतों से प्राप्त होते है वे भी किसी निर्णयात्मक स्थिति तक नहीं पहुँचाते । फिर भी कुछ मत निम्नलिखित है ।

(१) <u>भरत का मत</u> :

नाट्य ऐसे मनोरंजन विज्ञान पर सर्वप्रथम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही है जिसका काल १०० ई.पू. से ३०० ई.स. के बीच माना जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि भरत ने इस ग्रन्थ की रचना किसी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ के आधार पर की थी । सम्भव है, उस सूत्रात्मक ग्रन्थ के ही लेखक भरत हो और वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी अन्य लेखक ने मूल सूत्र ग्रन्थ के प्रतिसंस्कार के रूप में निर्मित किया । जो भी हो, भरत का मत नाट्यशास्त्र में मिलता है कि सभी देवताओं ने मिलकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की हमें ऐसे मनोरंजन का साधन प्रदान करें जो दृश्य और श्रव्य दोनों कहो और जिसे सभी वर्णों के लोग ग्रहण कर सकें । ब्रह्मा ने इस प्रार्थना पर चारों वेदों से सार भाग लेकर नाट्यवेद के रूप में पंचम वेद का निर्माण किया । उन्हों ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामवेद से संगीत, यजूर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस-तत्त्व लेकर नाट्यवेद की रचना की ।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च । यजुर्वेदादभिनयान् रसानादथर्वणादपि ।।[४] इस प्रकार नाटकों में एकत्र चारों वेदों का सारतत्त्व समाहित हुआ । यही नहीं भरतमुनिने शिव से ताण्डव और उमा से लास्य ग्रहण किया और शिव से ही रीति भी ग्रहण की । भरतमुनि के पुत्रों और शिष्यों ने गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ नाट्य में भाग लिया । इन लोगों ने इन्द्रध्वज पर्व के अवसर पर ब्रह्मा द्वारा रचित अमृतमंथन और त्रिपुरदाह नामक नाटकों का प्रथम अभिनय

किया । इस प्रकार नाटक दैवी, वैदिक और मानवीय विशेषताओं और कलाओं का एकत्र प्रदर्शन है जो सर्वजनहिताय और सर्व लोकोपकाराय हुआ है ।

(२) <u>संवाद - सूक्तों से नाट्य की उत्पत्ति</u> :

मैक्समूलर, सिल्वाँ लेवी, फॉन श्रोएदर, हर्टल आदि यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त दिया कि ऋग्वेद के कतिपय संवाद - सूक्त ही नाटकों के प्राचीनतम रूप है । इन संवाद सूक्तों में इन्द्र-अगस्त्य संवाद (ऋ.१।१६५; १७०) अगस्त्य - लोपामुद्रा संवाद (ऋ. १।१७९) विश्वामित्र - नदी संवाद (३-३३) वसिष्ठ - सुदास संवाद (ऋ. ७।८३), यम-यमी संवाद (ऋ. १०।१०) इन्द्र-इन्द्रायणी - वृषाकपि संवाद (ऋ. १०।८६), पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०।९५) तथा सरमा-पणि संवाद (१९।१०८) प्रमुख है । इन सूक्तों का सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्ड से नहीं है । संभव है कि दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञों में कर्मकाण्ड से क्लान्त पुरोहितों तथा दर्शकों के मनोरंजन के लिए कुछ नाटक नाटकों का अभिनय होता हो, उन्हीं के कुछ पद्यात्मक संवाद सुरक्षित रह गये । उनके पूर्वापर के गद्य संवाद स्मृति से दूर हो गये ।[१] ये संवाद सूक्त अभिनय और रूपकों के प्रथम अवशेष के रूप में बहुत महत्त्व रखते है ।

(३) <u>यूनानी रूपकों से उत्पत्ति</u> :

वेबर तथा विन्दिश ने संस्कृत रूपकों का उद्भव यूनानी रूपकों से सिद्ध किया है । उनके मत के दो-तीन आधार है - संस्कृत और यूनानी रूपकों में साम्य, सिकन्दर के आक्रमण (ई.पू. ३२६) के पूर्व भी भारत तथा यूनान का सांस्कृतिक सम्बन्ध एवं संस्कृत में उपलब्ध रूपकों का अतिप्राचीनता । विन्दिश ने कहा है कि संस्कृत रूपकों का अंको में विभाजन, प्रस्तावना और उपसंहार, पात्रों के प्रवेश और निर्गमन की विधि, यवनिका शब्द कथानक का रूपक में निर्वहण, रंगनिर्देश के भेद, विदूषक एवं खलनायक जैसे पात्र - ये सब यूनानी रूपक के ही प्रतिबिम्ब है । मध्यप्रदेश के सुरगुजा मण्डल में प्राप्त सीताबेंगा गुफा में (ई.पू. २००) प्राप्त पाषाण की नाट्यशाला का आकार-प्रकार यूनानी रंगमंच के समान है । इस प्रकार उक्त विद्वानों ने इस मत को पुष्ट किया है ।

जर्मनी के ही विद्वान पिशेल ने इस मत का प्रबल खण्डन किया है । डॉ. कीथ ने भी इसकी

विस्तृत समीक्षा की है ।[3] संस्कृत नाटकों में कथावस्तु का विश्लेषण (तदनुसार अंको में विभाजन) कार्य के आधार पर होता है जो यूनानी नाटकों में नहीं होता । संस्कृत नाटक दुःखान्त नहीं होते है जब कि यूनान के रूपकों में दुःखान्त को श्रेष्ठ कहा जाता है । संस्कृत रूपकों में काल, स्थान तथा कार्य की अन्वितियाँ नहीं होती है क्योंकि रसमय वातावरण में इन पर विचार नहीं होता । इसके विपरित यूनानी रूपक उक्त अन्विति-त्रय का अनिवार्य रूप से पालन करते है । संस्कृत रूपक यूनानी रूपकों से आकार में भी बडे होते हैं । मृच्छकटिक यूनानी नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के तुल्य है । संस्कृत रूपकों में वृन्दगान की व्यवस्था नहीं होती है, जब कि यूनानी रूपक इसके बिना होता ही नहीं । 'यवनिका' शब्द वस्तुतः यवन- देश से आए हुए पर्दे (ईरान के मोटे वस्त्र) का अर्थ रखता है, यूनानी नाट्य का प्रभाव नहीं बताता क्योंकि यूनानी नाटकों में पटाक्षेप (पर्दा गिराने) का प्रयोग ही नहीं था । पंडित बलदेव उपाध्याय ने इसे 'जवनिका' का रूपान्तर माना है जिसे भ्रमवश यवनिका कहा गया था ।[4] वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत और यूनानी रूपकों में साम्य से अधिक वैषम्य ही है । यूनानी सम्पर्क के बहुत पूर्व से ही संस्कृत नाटकों का अभिनय भारत में प्रचलित था इस लिए संस्कृत रूपकों की यूनानी उत्पत्ति अग्राह्य मत है ।

(४) <u>पुत्तलिका - नृत्य - सिद्धांत</u> :

प्रो. पिशेल ने यह विचार दिया है कि प्राचीन भारत में कठपुतलियों का नृत्य दिखाया जाता था, उसे ही सजीव रूप देने के लिए मानवों को मंच पर प्रस्तुत करके नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ । पिशेल का मत संस्कृत रूपकों में 'सूत्रधार' और 'स्थापक' शब्दों के प्रयोग पर आश्रित है जो पुतलियों के नृत्य में भी धागो को पकडते और उन्हें स्थापित करते थे । यह असंगत मत है क्योंकि एक साधारण नृत्य से रस-भाव क्रियात्मक नाटक की उत्पत्ति मानना तर्कसंगत नहीं । इसमें तथ्य यही है कि भारत में ही पुत्तलिका-नृत्य का उद्भव हुआ था, यहीं से यह नृत्य अन्यत्र पहुँचा ।

(५) <u>मृतात्म-श्राद्ध सिद्धांत (वीर-पूजा)</u> :

डॉ. रिजवे ने यह मत रखा था अपने मृत पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए जिस प्रकार यूनानी दुःखान्त रूपकों का उद्भव हुआ था, उसी प्रकार भारत में भी अपने दिवंगत वीर पुरुषों

के प्रति आदर-भाव दिखाने के लिए नाटक अभिनीत होते थे । रामलीला और कृष्णलीला इसी प्रवृत्ति के पोषक दृष्टान्त है । दुःखान्त रूपकों की तुलना नहीं हो सकती । राम और कृष्ण की लीलाएँ वीर पूजा से अनुप्राणित नहीं अपितु उपदेशात्मक मनोरंजन प्रदान करती है । दूसरे शब्दों में रसात्मक है । यूरोपीय विद्वान भी इस मत को ग्रहण नहीं करते कि वीर-पूजा से रूपकों का उद्भव हुआ है ।

(६) <u>उत्सव-सिद्धांत</u> :

यूरोप के कुछ विद्वानों ने अपने यहाँ होने वाले मैं - पोल-नृत्य को संस्कृत रूपकों का भी प्रथम रूप कहा है । यूरोप में मई (May) का मास वसन्त ऋतु का काल होने से अनेक समारोहों से भरा होता है । एक खम्भा गाडकर लोग नृत्य, अभिनय आदि करते है । इन विद्वानों ने दिखाया है कि इसी अवसर पर होने वाले अभिनयों ने प्राचीन काल में रूपकों का स्वरूप ले लिया होगा । भारत में इन्द्रध्वज - पर्व शरद् ऋतु में होता था जो इस में - पोल नृत् के समकक्ष था । किन्तु यह मत भी असंगत है क्योंकि एक सामान्य नृत्य से नाटक जैसे गम्भीर - प्रकार की उत्पत्ति मानना अनुचित है । यह नृत्य या अभिनय भारतीय नाट्य के विकास का अंग मात्र है; हर्षोल्लास मनाना यही सिद्ध करता है ।

(७) <u>छाया नाटक सिद्धांत</u> :

जर्मन विद्वान ल्यूडर्स तथा स्टेन कोनो का मत है कि छाया-नाटकों में जो छाया-चित्रों का प्रदर्शन होता है, वहीं संस्कृत रूपकों के मूल रूप रहे होंगे । किन्तु इस मत में आपत्ति है कि संस्कृत में छाया-रूपकों की संख्या नगण्य है । एक छायारूपक 'दूताइगद' मिलता है जो बहुत बाद का है (१२४३ ई.) । छायानाटक में पात्र मंच पर नहीं आते, पर्दों पर उनकी छाया दिखाई पडती है । पिशेल के अनुसार यही संस्कृत रूपकों का मौलिक रूप रहा होगा । यदि ऐसी बात है तो नाट्यशास्त्र में भी छाया नाटकों के अभिनय की चर्चा होती । ऐसा क्या हो गया कि सभी छायानाटक लुप्त हो गये ?

<u>निष्कर्ष</u> :

संस्कृत रूपकों का उत्पत्ति की व्याख्या करने वाले इन सिद्धांतो में केवल प्रथम दो ही ग्राह्य है, अन्य सिद्धांत केवल बहिरङ्ग पर आश्रित है । वे नाटकों के प्रारंभिक रूपों की आंशिक व्याख्या मात्र ही कल्पना या समकक्ष स्थितियों के आधार पर कर पाते है । संस्कृत नाटकों की

वैदिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो भरत का मत है तथा संवाद-सूक्तों से जो उनका उद्भव दिखाया गया है वे दोनों नाट्य के आवश्यक उपादानों की व्याख्या से सम्बन्ध हैं । संवाद-सूक्त का सिद्धांत केवल कथोपकथन (पाठ्य) की व्याख्या करने के कारण आंशिक है किन्तु भरत ने नाट्य के सभी उपादानों पर प्रकाश डाला है - यह सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या है । नाट्य के चार अनिवार्य तत्त्व है - पाठ्य, संगीत, अभिनय और रस । चारों वेदों में एक-एक तत्त्व पुष्कल रूप में है । ऋग्वेद के संवाद-सूक्त नाट्य को कथावस्तु और आवश्यक पाठ्य प्रदान करते है । सामवेद संगीतमय है, अतः नाट्य-संगीत प्रदान करने में समर्थ है । यजुर्वेद का कर्मकाण्ड वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय से भरा है; अतएव नाट्यवेद को अभिनयतत्त्व दे सकता है । अथर्ववेद का विषय-वस्तु नाटक में बहुधा सुलभ श्रृङ्गार एवं वीर रसों से परिपूर्ण है । स्त्रियों के प्रति किये गये अभिचार कर्म में श्रृङ्गार रस तथा शत्रुओं के प्रति कार्यो में वीर रस का प्राचीनतम रूप प्राप्त होता है । इसलिए अथर्ववेद नाट्य-रस का आधार है । इस प्रकार वेदों से आवश्यक उपादानो का संकलन कर लेने पर 'नाट्य' की व्याख्या हो सकती है - इसे पञ्चम वेद कहा जा सकता है ।

नाट्य का प्रारम्भ किन स्थितियों में हुआ - यह भी वेदों से ही समाधेय है । यज्ञों के अवसरों पर वैदिक युग में भी धार्मिक अभिनय या लौकिक विषयों के प्रदर्शन होते थे जिन के अवशेष संवाद-सूक्तों में सुलभ है । ब्राह्मण ग्रंथो के शुद्धतावादी युग में अभिनयों पर रोक लगी थी जिससे निम्न समाज तक ही इन्हें सीमित होना पडा किन्तु भरत के आविर्भाव ने नाट्य को पुनः प्रतिष्ठा दी तथा इसे सार्ववर्णिक पञ्चम वेद का प्रतिष्ठित पद मिल गया ।

संस्कृत नाट्य का प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन था, न कि वैदिक कर्मकाण्ड । इसलिए परवर्ती काल में, कर्मकाण्ड से असम्बद्ध सारी सामग्री नाट्यवेद में डाल दी गयी । इसका प्रयोग पर्व, उत्सव आदि अवसरों पर होता था । इस प्रकार संस्कृत रूपकों का उद्भव भारत में ही वैदिक युग में हुआ था ।

<u>संस्कृत नाट्य की विशिष्टताए</u> :

संस्कृत नाटकों का विकास विशुद्ध भारतीय परिवेश में होने के कारण इनका मुख्य लक्ष्य रसोद्भावन है । संसार के अन्य देशों के रूपकों के समान इनमें संवाद, घटना, कथानक या चरित्र-

चित्रण की प्रधानता नहीं होती । भारतीय रूपक मनोरञ्जन-प्रधान या आनन्दपरक होते है । धनञ्जयने कहा है कि आनन्द की धारा प्रवाहित करने वाले रूपक के रूपकों के समान इनमें संवाद, घटना, कथानक या चरित्र-चित्रण की प्रधानता नहीं होती । भारतीय रूपक मनोरञ्जन-प्रधान या आनन्दपरक होते है । धनञ्जयने कहा है कि आनन्द की धारा प्रवाहित करने वाले रूपक रूपकों में इतिहास आदि विषयों के समान केवल व्युत्पत्ति देना लक्ष्य समझने वाले अल्पबुद्धि वस्तुतः रस से विमुख है -

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ।[९]

अतः 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' को परम लक्ष्य मानकर ही संस्कृत रूपक रचे गये है । भरत ने इसकी व्याख्या की है कि - दुःखी, श्रान्त, शोकाकुल एवं तपः खिन्न लोगों को सही समय पर विश्रान्ति (दुःख निवारण या आनन्द) प्रदान करने वाला यह 'नाट्य' है -

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।[१०]

यही कारण है कि संस्कृत रूपकों में दुःखान्त की व्यवस्था नहीं है । नाटक के बीच में फल-प्राप्ति के विषय में संशय के कारण दुःखद स्थितियों की योजना भले ही हो कहीं कहीं (जैसे उत्तररामचरित में) करुण रस की अनवरत धारा बहायी गइ हो किन्तु अन्ततः नाटक को सुख-पर्यवसायी होना चाहिए । यह भारतीय दर्शन का प्रभाव है । इसके अनुसार जीवन एक अनवरत प्रक्रिया है जिसके आरम्भ से हम अनभिज्ञ है किन्तु उसके सुखद पर्यवसान के लिए हमारा प्रयास एकान्त रहता है । इसलिए नाटक के कथानक का विकास भी शुभ फल (धर्म, अर्थ या काम) की प्राप्ति की दिशा में होने से सभी नाटक सुखान्त होते है ।[११]

अन्य भाषाओं में रूपकों के इतने अधिक भेदोपभेद नहीं है जितने संस्कृत के नाटकों में है । यहाँ दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक होते है । इनमें नाटक बहुत लोकप्रिय है, दृश्यकाव्य के सर्वाधिक लक्षणों से सम्पन्न होता है । अन्य भेद भी दुर्लभ नहीं है क्षेत्रविशेष में

उनका प्रचार है । प्रकरण, प्रहसन, भाण, नाटिका, सट्टक आदि भी बहुत अधिक संख्या में लिखे गये है । इस प्रकार संस्कृत दृश्य काव्य का क्षेत्र व्यापक है । कुछ रूपक एकांकी भी है । कुछ में १४ अंको तक है ।

उपर्युक्त नाट्य-भेदों में <u>कथानक प्रसिद्ध या कल्पित</u> भी होता है । नाटक आदि कुछ भेदों में प्रसिद्ध कथानक रखा जाता है जिससे रस-बोध में सुविधा हो । लेखक प्रसिद्ध कथा में रसानुगुण परिवर्तन करके प्रेक्षकों की उत्सुकता बढाता है । प्रसिद्ध कथानक प्रायः रामायण, महाभारत, पुराण, बृहत्कथा या भारतीय इतिहास के ख्यात राजपुरुषों, आचार्यों या अन्य लोगों पर आश्रित होते है । प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि में कल्पित कथा का ग्रहण होता है ।

संस्कृत रूपकों में <u>कथानक का विकास</u> कुछ सिद्धांतो पर आश्रित होता है । कथानक को अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों में विभक्त किया जाता है । प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हैं । इनके प्रयोग से कथावस्तु का स्वाभाविक विकास होता है । कुछ स्थितियों में रूपककार स्वच्छन्दता का भी प्रयोग करते हैं ।

<u>पात्रों की व्यवस्था</u> भी रूपकों के विभाजन का आधार है । मुख्य पात्र नायक और नायिका हैं । जिनके भेदोपभेद माने गये हैं । नायकों को धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित के रूप में चार प्रकार का माना गया है । श्रृङ्गार रस की प्रधानता वाले रूपकों में इन नायकों के दक्षिण, शठ आदि भेद किये गये हैं । नायिकाओं का वर्गीकरण नाट्यसाहित्य की विशिष्टता है । अन्य पात्रों का प्रयोग भी रसोद्भावन एवं कथानक की प्रगति की दृष्टि से किया जाता है । संस्कृत रूपकों के पात्र मानव या देवता भी होते है । जैसे - दुष्यन्त, राम, इन्द्र, उर्वशी आदि । इसलिए पात्रों को दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य के रूप में विभक्त किया गया है ।

संस्कृत रूपकों का पारस्परिक भेद रसप्रयोग के कारण भी है । नाटकों में श्रृङ्गार, वीर या शान्त रस को मुख्य (अङ्गी) रस रखा जाता है, भवभूति ने करुणरस को प्रधान स्थान दिया है, अन्य सभी रसों का यथोचित निवेश होता है । रूपकों के अंको में केवल रसमय दृश्य ही प्रदर्शित होते है, इसलिए यदि विस्तृत सूचना देनी हो, नीरस विषय की प्रस्तुति करनी हो तो विष्कम्भक, प्रवेशक आदि का प्रयोग किया जाता है । इनमें रस की नहीं संवाद या सूचना की प्रमुखता होती है

। इस प्रकार (रस) को रूपकों के साथ अनिवार्यतया जोडने की दिशा में (न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते - नाट्यशास्त्र - ६।३१९) नाट्यकार बहुत सावधान रहता है ।

जीवन का कुछ क्रियाओं का वर्णन नाट्यशास्त्रियों ने मञ्चन की दृष्टि से किया है । अनुचित असभ्य और अशुभ दृश्य मञ्च पर नहीं दिखाये जाते जैसे - युद्ध, मृत्यु, निद्रा, सम्भोग, शाप, चुम्बन, भोजन आदि । इनकी सूचना प्रवेश आदि के द्वारा दी जा सकती है । इस प्रकार संस्कृत रूपक आदर्शवादी आचार-संहिता पर चलते है ।

भाषा-प्रयोग का विधान संस्कृत रूपकों की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है । भरत ने ही विधान किया था कि उच्च और मध्य वर्ग के पात्रों की भाषा संस्कृत होगी । प्राकृत में भी क्षेत्रीय प्रभेदों के विधान की दृष्टि से सामान्यतः महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी प्राकृतों का प्रयोग किया गया है । मृच्छकटिक में कई अन्य भेदों का भी प्रयोग हुआ है । यह भाषा-प्रयोग तात्कालिक यथार्थ स्थिति का परिचायक है ।[१२]

भारतीय जीवन के अन्य पक्षों के समान संस्कृत रूपकों पर भी <u>धर्म का प्रभाव</u> बहुत अधिक है । तथाकथित लौकिक रूपक भी धर्म के उपकरणों का यथेष्ट उपयोग करत है जैसे नान्दी या प्रस्तावना में देवस्तुति और भरत वाक्य में आशीर्वाद देना रूपक के उद्देश्य में धर्म का अभ्युदय भी दिखाया जाता है । कुछ रूपक तो शुद्ध दार्शनिक-धार्मिक उद्देश्य से ही लिखे गये जैसे - प्रबोधचन्द्रोदय, संकल्पसूर्योदय आदि ।

पाश्चात्य नाट्य-विज्ञान में स्वीकृत अन्वितीत्रय संस्कृत रूपकों में मान्य नहीं है । अरस्तू ने मुख्यतः दुःखान्त रूपक में रचना के परिसीमन और सघन प्रभाव की दृष्टि से काल, स्थान एवं कार्य की अन्वितियों का विधान किया है अर्थात् काल की दृष्टि से केवल एक दिन-रात की ही घटनाएँ कथानक के रूप में हो, स्थान की दृष्टि से एक ही नगर के भिन्न भागों की घटनाओं का समावेश हो (क्योंकि काल-सीमा दूरवर्ती घटनाओं की अनुमति नहीं देती) तथा एक सूत्र में बँधी घटनाओं को नाटक में रखा जाये (कार्यान्विति) । इनमें कार्यान्विति तो कलामात्र के लिए आवश्यक है, अतः उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं, किन्तु कालान्विति और स्थानान्विति की उपेक्षा यूरोपीय नाटकों में भी हुई है । संस्कृत नाटकों के रस-प्रधान होने से दर्शकों के समक्ष नाट्य-प्रेक्षण-

काल में देश काल पात्र आदि की सीमा नहीं रह जाती । प्रेक्षक तो असम्भव दृश्यों को भी आत्मसात् कर लेता है जैसे - 'शाकुन्तल' के आरम्भ में में हिरण के पीछे वन में रथ का दौडना प्रायः असम्भव घटना है किन्तु दर्शकों की सारी तर्क-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और दृश्यों के साधारणीकरण से आनन्द की सर्जना होती है । कार्यान्विति आवश्यक है क्योंकि मुख्य फल से समस्त घटनाचक्र को यह बाँधकर रखती है । इस अन्विति की दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' श्रेष्ठ नाटक है ।

संस्कृत रूपकों में रसोद्भावन की दृष्टि से उचित स्थानों पर पद्य प्रयोग भी किया जाता है । कथनोपकथन का मुख्य रूप तो गद्य ही रहता है किन्तु कुछ आवश्यक स्थलों में रोचकता, प्रकृति-वर्णन, नीति-शिक्षा, सुभाषित, विस्तृत घटनाओं का संक्षेपण आदि उद्देश्यों से पद्यों का भी प्रयोग हुआ है । यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढती गई है ।

विदूषक का प्रयोग संस्कृत रूपकों में हास्य-व्यंग्य के निवेश के लिए होता ही है, वह कथानक का भी एक अङ्ग होता है, कथा-प्रवाह को बढाता है । पाश्चात्य नाटकों में वह केवल हास्यजनक है, कथा का अङ्ग नहीं । शुद्ध हास्य की दृष्टि से 'प्रहसन' और 'भाण' नामक रूपक भेद संस्कृत में होते हैं जिन में समाज की विसंगतियों पर व्यंग्य होता है ।

संस्कृत भाषा के रूपकों मे आरम्भ में प्रस्तावना होती है जिसमें कवि परिचय के साथ नाटक के अभिनय के अवसर का संकेत रहता है । नान्दी पाठ से नाटक का आरम्भ एवं भरत वाक्य से समाप्ति, अंको की योजना, बीच-बीच में विष्कम्भक, प्रवेशक आदि देना ये सब रचना-प्रक्रिया के प्रमुख अङ्ग है । इनसे सिद्ध होता है कि रङ्गमञ्च पर अभिनय के लिए ही रूपक लिखे गये है । बीच में मञ्च से पात्रों का निर्गम, प्रवेश, स्वागत-भाषण, जनान्तिक भाषण इत्यादि संकेत नाटकों के अभिनय और मञ्चन को सुविधायुक्त कर देते हैं । प्रारंभिक नाटकों का मञ्चन (जैसे - भासकृत रूपकों का) अधिक सुविधायुक्त था । परवर्ती नाटक मञ्चन की दृष्टि से कठिन होते गये । आज भी संस्कृत रूपक प्राचीन नियमों का पालन करते हैं और यत्रतत्र मञ्चित होते हैं । ये संस्कृत भाषा के प्रचार के परिचायक है ।

संदर्भ सूचि :

१. मालविकाग्निमित्रम् (१-४) पृ. ९४

२. अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं-नृत्तं तालल्याश्रितम् ।

३. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ।।
नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यइकेहामृगाः इति ।।

४. नाट्यशास्त्र १-१७

५. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास पृ. १९९

६. वही पृ. १९७

७. संस्कृत नाटक - कीथ पृ. ४९-६२

८. पं. बलदेव उपाध्याय - संस्कृत साहित्य का इतिहास - पृ. ४७२

९. दशरूपक - १/६

१०. नाट्यशास्त्र - १-१११

११. हिन्दू नीतिशास्त्र यह अनुमिति नहीं देता कि कोई नायक अन्त में संकटापन्न हो । यहाँ धर्म-विजय और अधर्म-नाश लक्ष्य माने गये हैं । अतः संस्कृत नाटकों को भी इसका पालन करना पडता है ।

१२. संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा के प्रयोग का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अभिनेता प्रायः निम्न वर्णो के अशिक्षित लोग होते थे जिन्हें प्राकृत - प्रयोग में सुविधा होती थी । संस्कृत-प्राकृत का मिश्र प्रयोग उन्हें आकृष्ट करने की दृष्टि से हुआ था । भरत के पुत्र और शिष्य निम्नवर्गीय किन्तु अभिनय में कुशल थे ।